8

docs.com amit jha

विषय-सूची

परमाराध्य v

लेखक बागरोदी श्री बलदेव शर्मा 'सत्य' का जीवन-परिचय vii

श्रीमती रुक्मिणीबाई वल्लभदास काराणी का जीवन परिचय xi

भूमिका xiii

प्रथम तरंग— १— ८२

पुष्टिमार्गीय उत्सव, मंगलादि नित्यसेवा, तिलकायत स्वरूप, सेवक स्वरूप, कीर्तनिया को स्वरूप, सुबोधिनी के आधार पर वस्त्राभूषण, उभय लीलात्मक अष्टयाम सेवा, नैमित्तिक उत्सव।

द्वितीय तरंग— ८३—१७

[यूथाधिपा (स्वामिनी) श्रीयमुना—सेवा मास—वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़] यमुनाष्टक (आचार्य वल्लभकृत) प्रादुर्भाव, सेवोपयोगी देहाप्ति श्रीयमुना जी की सेवा—वैशाख वदी प्रतिपदा; गोकुलनाथ जी के मन्दिर को उत्सव; वल्लभ जयन्ति; महाप्रभु वल्लभ को संक्षिप्त परिचय; ताज परिचय; श्रीनाथ स्वरूप वर्णन हरिरायकृत; गो० ति० गिरिधारी जी; वनमाला परिचय; व्यास पूनम।

तृतीय तरंग— १७७—२६८

[यूथाधिपा (स्वामिनी) ठकुरानी श्री राधारानी—सेवामास—श्रावण, भाद्रपद, आश्विन]

श्रीनाथ जी के कीर्तन राग; राधा प्रार्थना चतुश्लोकी; श्रावण-हिंडोला; हाँडी उत्सव, पवित्रा; रक्षा-बन्धन, दामोदर जी महाराज, गोवर्धनलाल जी को उत्सव, हिंडोरा विजय, जन्माष्टमी।

तरंग— २६६—३५७
द कृष्णा नवमी से आश्विन कृष्णा अमावस्या तक]
भावना, नवरस में ग्वाल लीला; दानघाटी को दान; करहला को
ांझी को प्रारम्भ; गहवर वन को दान; साँकरीखीर को दान,
महाप्रभु उत्सव; दान कदम्ब खन्डी को; गोवर्धन को दान;
र्ग के पञ्च साधन; पधरावनी गुरून की; ग्वाल मण्डली; वैष्णव
; भक्त मण्डली, कीर्तन मण्डली।

त तरंग— ३५८—४८८
धिपा (स्वामिनी) श्री ललिता-सेवामास-कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष]
ारंभ; माखन लीला; सवालक्ष तुलसी दल; रास के द्वादश
अन्नकूट महायज्ञ, गोपाष्टमी; अक्षय नवमी, प्रबोधिनी की
ताएँ, ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरधर जी को उत्सव, पौष मास की सेवा;
नाथ जी को उत्सव, स्वरूप लीला; संक्रान्ति।

तुरंग— ४८६—५६८
धिपा (स्वामिनी) श्री चन्द्रावली—सेवामास—माघ, फाल्गुन, चैत्र]
को वर्गीकृत स्वरूप, श्री चन्द्रावली जी को परिचय, बसंतागम
ृंगार; गोस्वामी तिलकायत श्री दामोदर जी (दाऊजी) महाराज
क्षिप्त परिचय, गिरधर जी को लीला-प्रवेश, हरिराय महाप्रभु,
होरी परिचय, डांडारोपिणी, श्रीनाथ जी को पाटोत्सव, होलाष्टक
, वसन्त, फाग, धमार, होरी। श्रीनाथ जी की सेवा की कुछ
ताएँ।

ाष्ट— ५६६—५७६
ृषयकरति, श्री बैठक जी में गादीजी की स्वरूप भावना गोवर्धन-
ीनाथ जी के मन्दिर में पालनीय विधि निषेध, सूर्य-चन्द्र-ग्रहण में
सेवा को स्वरूप, मान के पद। मुख पृष्ठ के चित्र का परिचय
ायत परम्परा, उपसंहार।

परमाराध्य

निकुञ्ज नायक श्री गोवर्धनधर के चरणों में सविनय समर्पित

श्रीनाथ जू को सेवा-रसोदधि बनायो ग्रंथ यह,
परिपूरन कियो है श्रीगोवर्धनधारी ने।
बरस लगे सात 'सत्य' प्रथित विचार बहु,
देखि देखि सेवा-क्रम नाथ नगर वारे ने॥
गोवर्धन धरण के घर की प्रणालिका, यह,
जानो ना समझो, मैं तोऊ बुद्धि दरसावै है।
तिलक 'गोविन्द' बल ग्रंथ यह पुरन भयो,
चरनन में धरिकै 'सत्य' धन्यता जु पावै है॥

वर्तमान तिलकायत श्री

श्री १०८ गो. गोविंदलालजी महाराज

श्रीनाथ-सेवा-रसोदधि के लेखक

बागरोदी श्री बलदेव शर्मा 'सत्य'

बागरोदी श्री बलदेवशर्मा 'सत्य' का जीवन परिचय

[ले०—श्री नवनीत गोस्वामी]

प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक श्री 'सत्यजी' के पूर्वज तैलंगाना प्रदेश के थे। वे भी महाप्रभु वल्लभाचार्य के पूर्वजों के साथ ही उत्तर भारत की ओर आये थे। यह तथ्य श्री हरिहर भट्ट के 'विष्णुस्वामि चरितामृत' से सिद्ध होता है। उक्त ग्रंथ के ग्राम ज्ञाति खण्ड में 'बागरोद' ग्राम की चर्चा आई है। यह ग्राम तैलंगाना प्रदेश में आज भी विद्यमान है। महाप्रभु वल्लभाचार्य के द्वितीय कुमार गो० श्री विट्ठलेश की पत्नी श्री रुक्मिणी बागरोदियों की ही कन्या थीं।

तैलंगाना छोड़ने के साथ बागरोदी परिवार अपने इष्टदेव भगवान् श्री गिरधारीजी को भी साथ लेता आया और ब्रज में राधाकुण्ड पर मन्दिर निर्माण करवा कर वहाँ स्थापना करदी। तत्कालीन जयपुर नरेश के आग्रह से यह सेव्य निधि जयपुर पधराई गई और यही कारण था कि बागरोदियों के परिवार राजस्थान के कोटा, जयपुर, बीकानेर, अलवर आदि स्थानों में बस गये। कर्मकाण्ड राज्य-गुरुत्व, उपास्य-सेवा आदि से जीविका चलाते रहे।

श्री 'सत्य' जी के पिता पुण्य श्लोक श्री मधुसूदन शर्मा जयपुर राज्य के पचेवर ग्राम के निवासी थे। वे श्रीनाथजी के परमभक्त थे। जब सत्य जी बालक ही थे वे भगवच्छरणागति को प्राप्त हो गए। निराश्रित बालक 'सत्य' को अनेक कारणों वश पचेवर छोड़ना पड़ा और केवल एक जलपात्र और उपरणा मात्र के संबल से वे करुणावरुणालय श्रीनाथजी की नगरी नाथद्वारा आ गए और उन्हीं के आश्रय में गोपालमंत्र की साधना करते हुए विद्यार्जन किया। पिता श्री मधुसूदन शर्मा यद्यपि अकिंचन थे तथापि अत्यन्त लोकप्रिय, प्रतिष्ठित और वैष्णव-सेवा-व्रती थे। आत्मसम्मान की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी थी अतः सामंती-ठसक के सामने वे कभी नतशिर नहीं हुए।

वि. सं. १९६९ आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी रविवार को माता कमलावती की कोख से श्री सत्य जी का जन्म हुआ। सं० १९७३ में मुण्डन तथा कुछ समय उपरान्त ननिहाल बीकानेर में उपनयन संस्कार सम्पन्न हुआ। श्री मट्टूलालजी के चरणों में बैठकर विद्याभ्यास किया तथा वहीं संवत् १९८४ ज्येष्ठ १५ को बीकानेर में १६ वर्ष की आयु में गोकुल निवासी रेही द्वारकानाथ लाला जी की सुपुत्री श्री यमुनादेवी के साथ पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ।

पुराण-वेदान्त शास्त्री परीक्षायें काशी से उत्तीर्ण करने के उपरान्त वल्लभ-वेदान्त एवं पुष्टिमार्गीय प्रेमलक्षणा भक्ति के रहस्यों का ज्ञान अपने फूफा श्री गो० द्वारकेशलाल जी महाराज से प्राप्त किया। पू० पा० तिलकायत गो० गोवर्धनलाल जी महाराज से अष्टाक्षर मंत्र एवं ब्रह्मसंबन्ध की दीक्षा प्राप्त की। पुष्टिमार्गीय कला का ज्ञान गोस्वामी श्री हरिप्रिया बहूजी महाराज कोटा तथा विविध शास्त्र एवं व्याकरण का अध्ययन श्री शंकरलाल जी नाथद्वारा, लाड़लीलाल जी वृन्दावन, श्री मार्कण्डेय मिश्र दरभंगा, काशीनाथ शास्त्री, पं० गिरिधारीलाल जी कोटा एवं श्री दामोदरजी रायला प्रभृति विद्वानों से किया। इस प्रकार श्री सत्य जी की गुरु परम्परा बड़ी उच्चकोटि की रही। विद्याभ्यास की तीव्र लगन और विविध विषयों का ज्ञानार्जन उनका जीवन व्यसन रहा है। भगवत् सेवा के अनन्त रहस्यों का ज्ञान उन्होंने मथुराधीश के बड़े मुखिया श्री गोकुलदास जी से प्राप्त किया। अपने नाथद्वारा निवास काल में वल्लभ-दर्शन का गंभीर ज्ञान श्री बाल शास्त्री पोतकूर्ची से अर्जित किया।

सामाजिक जीवन :—श्री सत्यजी ने समाज-सेवा की दीक्षा अपने पूज्य पिता से पाई है। उन्हीं के चरण-चिह्नों पर चलते हुये वे समाज की गतिविधियों में गहरी रुचि लेते रहे हैं। उनकी लोकप्रियता का यही रहस्य है कि वे आबाल-वृद्धों, साक्षर-निरक्षरों, स्त्रियों-दलितों की सेवा में सदैव तत्पर रहे हैं। नाथद्वारा की अपनी समकालीन कोई भी सामाजिक, साहित्यिक, धार्मिक संस्था ऐसी नहीं थी जिससे 'सत्यजी' किसी न किसी रूप में जुड़े हुये न हों। वर्षों वे अखिल भारतीय पुष्टि मार्गीय वैष्णव परिषद् नाथद्वारा शाखा के मंत्रिपद पर रह कर पुष्टि मार्ग विशेष कर नाथद्वारा के धार्मिक जन-जीवन को तीव्रता से संचालित करते रहे हैं। तिलकायत श्री गोविन्दलाल जी महाराज एवं राजस्थान सरकार के मध्य जब नाथद्वारा मंदिर की सेवा-पद्धति तथा अन्य अधिकारों को लेकर संघर्ष प्रारम्भ हुआ तब सत्यजी ने ही नाथद्वारा में जनजागरण करते हुये तिलकायत की अनुपस्थिति में भी अपना नैतिक संघर्ष चालू रखा और मन्दिर तथा सेवा-पद्धति की मर्यादा रक्षा में अपना अमूल्य योगदान दिया।

प्रचार कार्य :—गो० श्री कृष्णकुमार महाराज के साथ शास्त्री के रूप में रहते हुए श्री सत्यजी ने लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर आदि उत्तर-प्रदेश के बड़े-बड़े नगरों में पुष्टि मार्गीय सिद्धान्त, सेवा, भक्ति आदि का प्रचार कार्य बड़ी लगन और तत्परता से किया। गो० रणछोड़ाचार्य प्रथमेश के साथ दक्षिण में कोल्हापुर, शोलापुर, बम्बई, इलचीकरण आदि स्थानों में प्रचार कार्य किया, राजस्थान,

गुजरात आदि प्रदेश तो आपसे परिचित ही थे। प्रचार कार्य करते हुए आपने 'वल्लभ शतक' ग्रंथ प्रकाशित कराया जो अत्यन्त लोकप्रिय हुआ।

साहित्य रचना :—श्री सत्यजी मूलतः संस्कृत के लेखक रहे हैं अपने विद्यार्थी जीवन में ही संस्कृत-पद्यों की रचना किया करते थे। परन्तु बाद में उन्हें हिन्दी-ब्रजभाषा में कविता लिखने की प्रेरणा हुई फलतः अनेक ब्रजभाषा गद्य-पद्यमय ग्रंथों की रचना उनके द्वारा हुई है। पुष्टि रसाल, श्रीनाथ चिह्न-भावना, सातस्वरूप भावना, श्री गुसाईंजी के वचनामृत, आरती-संग्रह, श्री विठ्ठल—श्रीनाथ-स्तोत्र आदि ग्रंथों के अतिरिक्त श्री गोविन्द तिलकायत अष्टोत्तरशत कवितावली, नायक-नायिका-भेद स्थल वर्णन, विरह पद्यावली, द्वादशमासी श्रृंगार दोहावली आदि अनेक उनकी फुटकर रचनाएँ हैं। इस प्रकार सत्यजी ने हजारों कवित्त एवं दोहों की रचनाएँ की हैं। उनके दो महत्वपूर्ण कार्य की चर्चा किये बिना उनके कृतित्व का विवरण अधूरा रह जायगा। 'नाथद्वारे का सांस्कृति इतिहास' उनका महत्वपूर्ण ग्रंथ है जो उन्होंने अपने प्रिय शिष्य कविवर श्री प्रभुदास जी वैरागी से लिखवा डाला। इसी प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ श्रीनाथ-सेवा-रसोदधि तो उनकी जीवन भर की श्रीनाथ-सेवा एवं भक्ति का निचोड़ ही है। यह ग्रन्थ उनकी जीवन-साधना का चिन्तामणि है।

पुष्टि-संप्रदाय में श्रीनाथ-कथा का शुभारम्भ करने वाले प्रथम व्यक्ति के रूप में 'सत्यजी' सदैव जाने जायेंगे। श्रीमद्भागवत के वे जाने माने कथाकार पण्डित हैं। उनका भागवत विषयक अप्रतिम वैदुष्य संप्रदाय एवं अन्यत्र सर्वविदित है।

जीवन के तुरीय चरण में अपने प्रिय पुत्र के आग्रह पर वे बीकानेर में स्थायी निवास कर रहे हैं। भगवत्-सेवा-स्वाध्याय, सत्संग, संत-सेवा, साहित्य-सर्जना उनके जीवन व्यापार हैं। परिणतवय में भी अत्यन्त परिश्रम करते हुये वे एक क्षण भी रिक्त नहीं बैठते। अपने जीवन-निर्माताओं में अपनी पितृष्वसा गो० श्री हरिप्रिया बहूजी का वे गलदश्रुभाव से स्मरण करते हैं। अपने मित्रों में श्री गंगादास साँचीहर को वे अत्यन्त स्नेह आदर एवं श्रद्धा देते हैं। श्री साँचीहर श्रीनाथजी के बड़े मुखिया हैं और सत्यजी के वे अति निकट अन्तरंग सखा हैं। उन्हीं की सत्प्रेरणा, परामर्श एवं सतत सहयोग का परिणाम प्रस्तुत ग्रंथ है।

अपने वक्तव्य को पूर्ण करने से पूर्व मैं अपना यह परम कर्तव्य समझता हूँ कि प्रस्तुत ग्रंथ के सम्पादक एवं भूमिका लेखक आदरणीय डॉ० गोवर्धननाथ जी शुक्ल की भी चर्चा कर दूं। वे 'सत्यजी' के अनुजवत् हैं। ग्रंथ के संशोधन, परिवर्तन, परिवर्धन एवं प्रकाशन का भार अपने ऊपर ओढ़कर उन्होंने संप्रदाय की महती

सेवा की है। संप्रदाय के वे मर्मज्ञ विद्वान् भावुक वैष्णव हैं। तिलकायत गो० श्री गोवर्धनलाल जी महाराज से उन्होंने ब्रह्म-सम्बन्ध की दीक्षा ली थी अतः इस नाते भी वे 'सत्यजी' के गुरुभाई हैं। सत्यजी के प्रति उनकी अगाध निष्ठा और स्नेह का ही परिणाम है कि यह ग्रंथ प्रकाश में आ सका।

अन्त में श्री गोवर्धनधर के चरणारविन्द में यही प्रार्थना है कि श्री 'सत्यजी' को वे दीर्घायुष्य दें जिससे संप्रदाय एवं साहित्य की अनिर्वचनीय-सेवा-साधना सतत चलती रहे।

प. भ. श्री भगवानदास वल्लभदास काराणी

प. भ. अ. सौ. श्रीमती रुक्मिणीबेन काराणी

श्रीहरिः

प० भ० अ० सौ० रुक्मिणीबेन वल्लभदास काराणी (भाटिया) का जीवन परिचय

[अनु०—डॉ० गोवर्धननाथ शुक्ल,
एम० ए०, पी-एच० डी०]

परम भगवदीया रुक्मिणीबेन का जन्म छप्पन (५६) वर्ष पूर्व सिंध में हुआ था। इनकी माता श्री पदलीबाई तथा पिता श्री हीरानन्द जी का गहरा भगवत् प्रेम इनमें अवतरित हुआ है। इनका मूल स्थान ठठ्ठा नगर (सिन्ध) में था। वहां के अत्यन्त सम्पन्न परिवारों में इनकी गणना थी। भारत के विभाजन होने पर और पाकिस्तान बनने पर यह परिवार नासिक (महाराष्ट्र) में आ गया। आजकल इनका निवास स्थान बंबई (अंधेरी) में है। इनके पतिदेव श्री वल्लभदास सेवकराम अत्यन्त भगवदीय हैं। श्रीमद्भागवत; रासलीला एवं भगवद् सेवा के प्रति इनकी असीम श्रद्धा भावना है। इस प्रकार यह दम्पति परम भगवद् भक्त है।

श्रीमती रुक्मिणीबेन तिलकायत श्री गो० गोवर्धनलालजी महाराज (नाथद्वारा) की सेवक हैं। इनके यहाँ श्री श्री महाप्रभु जी एवं श्री बालकृष्णलालजी बिराजते हैं। अत्यन्त दैन्य एवं भाव से भगवत् सेवा करते हुए रुक्मिणीबेन समय व्यतीत करती हैं। गत ४० वर्षों से वे कुँए के जल का ही प्रयोग करती हैं। भगवदिच्छा एवं इनका अपना आन्तरिक भाव था कि प्रभु सेवा में द्रव्य का विनियोग एवं अपरस में पवित्र जल श्रीजी की झारी के लिये हो अतः घर में ही कुँए की व्यवस्था हो सके तो अच्छा; इस मनोरथ को प्रभु ने पूर्ण किया। आपने अपने ही बंगले में कुएँ का निर्माण कराया। इनके चार पुत्र हैं :— १—श्री विट्ठल भाई; २—भगवानदास भाई; ३—भरतभाई एवं ४—ध्रुव भाई। आपकी चार पुत्रियाँ हैं। सभी संतति भगवत् परायण एवं दैवी संपत्तिसंपन्न हैं।

व्रजवासियों, ब्राह्मणों, वैष्णवों एवं साधु-संतों का आदर सत्कार एवं समाधान इनके यहाँ की अखण्ड मर्यादा है। सब प्रकार से सम्पन्न होकर भी विनय,

शील, एवं दैन्य से युक्त गुप्त भाव से वित्तजा सेवा करने का इनका क्रम आज भी अबाध चलता रहता है। जब तब श्री नाथद्वारे एवं ब्रज की यात्राएँ सौ० रुक्मिणीबेन करती ही रहती हैं। गुप्त मनोरथ करने में इनकी रुचि सदैव रही है। इतने पर भी बेन रुक्मिणी को अभिमान अथवा अहंभाव स्पर्श तक नहीं कर पाया है। ज्ञाति के प्रति असीम प्रेम भाव, सुखी दुःखी सभी प्रकार के लोगों की सहायता करना इनका स्वभाव बन गया है। भगवत् सेवा तो अत्यन्त दीनता से करती ही रहती हैं। इस ग्रंथ के मुद्रण में अर्थ साहाय्य के लिए उनको कोटिशः धन्यवाद है। प्रभु उन्हें ऐसी सत् प्रेरणा देते रहें।

वाचक वैष्णवों को श्री वल्लभदास सेवकराम के भगवत् स्मरण।

भूमिका

डॉ० गोवर्धननाथ शुक्ल

[सेवा निवृत्त आचार्य, हिन्दी विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय]

भारतीय-भक्ति-साधना-परम्परा में आचार्य वल्लभ अन्तिम आचार्य हैं। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में भक्ति-आन्दोलन का प्रखर मध्याह्न मार्तण्ड अपनी पूर्ण तेजस्विता से हिन्दी साहित्याकाश को देदीप्यमान कर रहा था विशेषकर सगुणधारा अपने संपूर्ण वेग से प्रवाहित थी। सन्त कबीर ने जिस निर्गुणधारा को अपनी अटपटी वाणी से परिपुष्ट किया था उसकी प्रतिक्रिया कुछ-कुछ प्रारम्भ हो गई थी। गोस्वामी तुलसीदास निर्गुणोपासना को सर्वसाधारण के लिए गूढ़ और अव्यवहार्य मानते थे। कबीर ने कहा था[1]—

(१) सर्गुण की सेवा करो, निर्गुण का करु ग्यान।
निर्गुण सर्गुण के परे, तहँ हमारा ध्यान॥

(२) "वह तो इन दोऊ ते न्यारा, जानें जानन हारा।"

तुलसी ने कबीर मत का इस प्रकार प्रत्याख्यान किया था—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥

अवतार विरोधी कबीर कहते थे—

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना॥
दसरथ कुल अवतरि नहिं आया। नहिं लंका के राय सताया॥

तुलसी को कबीर का कथन शल्य की भाँति चुभा उन्होंने भगवान् शंकर से उत्तर दिलवाया[2]—

तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि स्रुति गाव, धरहिं मुनि ध्याना॥

१—कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।

२—मुकुर मलिन अरु नयन विहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना।
जिन्हके अगुन न सगुन विवेका। जल्पहिं कलिपत वचन अनेका॥

वस्तुतः कबीर का उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य स्थापन था। किन्तु उनकी खरी कढ़ुवाहट से दोनों ही नाराज बने रहे। इस युग के दो मनीषी महात्माओं ने

१—कबीर वचनावली पृष्ठ ८५, १६६।
२—रामचरित मानस बालकांड १।११४।

इस्लाम के अवतार, मूर्तिपूजा वर्णाश्रम विरोधी प्रवाह को अपनी ओजस्वी वाणी एवं अप्रतिम लेखनी से एक ऐसा युगान्तरकारी मोड़ दिया जिसे भारतीय संस्कृति, धर्म एवं साहित्य कभी भुला न सकेगा। वे दो महात्मा थे—महाप्रभु वल्लभाचार्य एवं गोस्वामी तुलसीदास। दोनों ही महापुरुषों के उपदेशों का उद्देश्य वर्णाश्रम व्यवस्थापूर्वक प्रवृत्तिमूलक भक्ति-साधना था। जिसमें गृहस्थाश्रम का त्याग न करके भगवदर्पण बुद्धि से सन्तुष्ट मनसा जीवन-यापन की सीख थी। न वे कबीर की भाँति अक्खड़पन से पेश आये; नहीं उन्होंने महाप्रभु चैतन्य के अनुयायिओं की भाँति अत्याचारों को सहन किया। दोनों ही महापुरुषों ने अड़ैल (त्रिवेणी संगम स्थित अलर्कपुर) तथा चित्रकूट के एकान्त वातावरणों में भक्ति-साधना करते हुए साहित्याराधन से लोकादर्श की स्थापना की तुलसी के आराध्य निगम प्रतिपाद्य परब्रह्म होकर भी दशरथ अजिर बिहारी हैं। महाप्रभु आचार्य वल्लभ के आराध्य पूर्ण पुरुषोत्तम वेद-वेदान्त वेद्य परब्रह्म होकर भी चपल यशोदा-बालक यशोदोत्संग लालित, निस्साधन भजनीय, नन्दनिकेतांगणरिंगण् कर्ता हैं।

युग प्रवाह, एवं तत्कालीन राज-मान्य-धर्म को चुनौती देते हुए दोनों ही महापुरुष कट्टर साकारोपासक पूर्ण ब्रह्म के अवतारी रूप के उपासक थे। आचार्य वल्लभ के द्वितीय कुमार गोस्वामी विट्ठलेश ने अपने पिता के विषय में लिखा है—

"साकार ब्रह्मवादैक स्थापको वेद पारगः"[1]

आचार्य वल्लभ गुरु रूप में जन-जन को दीक्षा देकर भी अपने शिष्य न बनाकर भक्तों को भगवान् का सेवक बनाते हैं और उनके माथे (दायित्व में) भगवान् का कोई न कोई छोटा-मोटा स्वरूप पधराकर उसकी सेवा में रत रहने का उपदेश देते हैं। उनके सिद्धान्तानुसार भक्ति-साधना करने वाले के लिए कम से कम प्रारम्भ में तो भगवद् विग्रह (स्वरूप) सेवा आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। यदि भक्त अष्टविध प्रतिमाओं में से किसी भी प्रकार की प्रतिमा उपलब्ध न कर सके तो श्री यमुना रेणु की ही भगवद्-भाव भावित होकर पूजे, सेवा करे। तत्कालीन इस्लामी शासन में जहाँ एक ओर मूर्तियों को खण्डित-विखण्डित करके भारतीय धर्म मान्यता को निर्मूल करने की चेष्टा की जा रही थी, वहाँ आचार्य का यह सगुण भक्ति प्रचार का सत् प्रयास कितना महान् कितना मूल्यवान आत्म-विश्वास से परिपूर्ण था, इसकी कल्पना सहज नहीं की जा सकती है। आचार्य ने अपने कृष्णाश्रय ग्रन्थ में तत्कालीन भारतीय-धर्म-साधना की व्यापक विपत्तियों का संकेत दिया है।

१—सर्वोत्तम स्तोत्र श्लोक सं० ८

मूर्ति-स्थापन, उसकी प्राण प्रतिष्ठा, मन्दिर निर्माणादि बड़े झमेलों के कार्य हैं। आचार्य ने अपनी भक्ति-परम्परा को नितान्त सात्विक बनाते हुए निरीह साधक को उन सब बखेड़ों से बचा लिया है। उनके निर्दिष्ट साधन मणि को किसी प्रकार का झंझावात बुझा नहीं सकता। आचार्य के पुष्टिमार्ग में भक्ति के आलम्बन की सीधी-सादी व्यवस्था है—कैसी भी श्रीकृष्ण-मूर्ति को कहीं से भी (भले ही बाजार से खरीद कर) लाइए, वल्लभ वंशज आचार्य से पंचामृत करा कर चरण स्पर्श कराइए वही विग्रह आपका सेव्य स्वरूप बन जायगा। तब वह मूर्ति न रहकर आचार्य के द्वारा पुष्टिस्वरूप (अनुग्रह करने वाला पूर्ण पुरुषोत्तम) बन जाता है। उसमें कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तृत्व का सामर्थ्य अनुप्रविष्ट होकर वह चिन्मयस्वरूप आपके लिए जीवन यात्रा का चरम सम्बल बनकर एकमात्र आश्रय स्थल भी बन जाता है। उसके लिए वेदोक्त प्राण-प्रतिष्ठा की आवश्यकता उसी भाँति नहीं रह जाती जैसे गंडकी से प्राप्त शालग्राम, नर्मदा से प्राप्त शिवलिंग अथवा गंगा का पावन जल, गिरिराज गोवर्धन का शिलाखण्ड आदि। आचार्य द्वारा सौंपे आपके उस स्वरूप के लिए तथाकथित मर्यादामार्गीय मन्दिरों के शास्त्रीय शिल्प की भी आवश्यकता नहीं होती। प्रिय निज जन, स्वजनवत् अपने घर में अपने निकट, किन्तु प्रेम मार्गीय मर्यादा से पूज्य भावना से रखिए-सेवा कीजिए। जिसमें नितान्त भाव की ही प्रधानता हो। पदे-पदे सुकोमल भावना-भावित रहकर आप तन्मय बने रहें। भावना-भावित आपका अपनाया हुआ वह चिन्मय स्वरूप आपकी नैतिकता के लिए परम बल और अनैतिकता के लिए क्षण-क्षण के अंकुश का कर्तव्य निभायेगा। 'यथा देहे तथा देवे' की उक्ति के अनुसार जो भी आपको शीत-ऊष्ण, भूख-प्यास के लिए देह-यात्रा और देहरक्षार्थ आवश्यक है वह अपने सेव्य के लिए भी समझिए। यद्यपि परम तत्व पूर्णपुरुषोत्तम आप्त काम के लिए कुछ भी अपेक्षित नहीं तथापि आपका आवश्यक कर्तव्य है कि आपकी अपनी देह-यात्रा के लिए जो भी अनिवार्यतः अपेक्षित है, वह सब भावना के अनुसार आपके सेव्य के लिए भी अपेक्षित है। जो भी नूतन, रुचिकर, वरेण्य, समीचीन आपको लगता है। आपसे पूर्व आपके सेव्य स्वरूप को वह निवेदित होना ही चाहिए। तुलसी के शब्दों में—

"तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषण धरहीं॥"[1]

इस समर्पण में वस्तु अथवा सामग्री की पवित्रता, उसकी समीचीनता का बोध रखना आवश्यक है। पुष्टि भक्ति साधना हरि भक्ति और स्वाध्याय दो के अतिरिक्त किसी अन्य लौकिक व्यसनों की अनुमति नहीं देती। देहेन्द्रियादि के लिए जो भी

१—मानस अयोध्याकाण्ड दो० १२६।

ग्राह्य है वह समर्पण के बाद प्रसाद रूप में ही। इस दृष्टि से जो भी परम प्रिय वस्तु—देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण तथा इनसे सम्बन्धित स्त्री, पुत्र, वित्त, गृहादि एवं स्वजन परिकरादि हैं सभी अपने सेव्य के माध्यम से ही ग्राह्य, सेवनीय एवं स्वीकार्य हैं। यही उस परमाराध्य की सेवा है। अतः चरम अकिंचन से लेकर परमाढ्य अथवा सम्पन्न व्यक्ति के लिए इस भक्ति-साधना का राजमार्ग खुला है। यह भागवत मार्ग है अतः इसमें जाति, धर्म, वर्ण आश्रमादि का बन्धन नहीं। कर्म मार्ग के अनावश्यक बखेड़ों, विधि निषेधों से परे इस साधना का द्वार सभी के लिए उन्मुक्त है। न्यूनातिन्यून 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' से लेकर मणिमुक्तादि तक की यहाँ गुंजायश है। इस आधार पर इस सेवा मार्ग में सेव्य की सेवा का अकिंचनतम रूप भी मिलता है और आढ्यतम रूप के दर्शन भी होते हैं। अकिंचनता और आढ्यता की परमावधि अथवा चरमबिन्दु के रूप निश्चित नहीं होते। किन्तु दोनों ही स्थिति में सेवा ही प्रधान है सेवा में भाव प्रधान है। इसीलिए यह सेवा-मार्ग मर्यादामार्गीय मन्दिरों की पूजा-प्रधानता से विलक्षण पड़ जाता है। मर्यादा-मार्गीय मन्दिरों में शास्त्र नियामक बन बैठता है। भावना का प्राधान्य न होकर वहाँ वेद मार्ग और शास्त्राज्ञा की ही प्रधानता है। यद्यपि घोर चंचल मन वालों के लिए आचार्य ने पूजा-प्रवाह वाले स्थानों में जा बसने की आज्ञा दे दी है।[1] किन्तु वह इसीलिये कि कुछ काल पूजाप्रवाही स्थानों में बसने पर चंचल अंकुश रहित मन धीरे-धीरे भवगदभिमुख होने लगेगा और साधक का सुप्त भगवद् भाव चैतन्याभिमुख हो जायगा। आचार्य ने चंचल मन वालों के लिए गृह त्याग निषिद्ध बताया है। परन्तु घर में आसक्त न होकर घर को कृष्णार्थ ही प्रयोग करे।[2] आसक्ति से बचने का सर्वोपरि उपाय पुष्टि मार्ग में सर्वाधिक सुलभ है। अपना प्रिय व्यसन और वस्तु जब सेव्य श्रीकृष्ण के माध्यम से साधक के पास आती है अथवा 'प्रसाद' बन जाती है तभी भोग्य हो जाती है। परिणामतः साधक की मन की ललक लौकिक वस्तु से शनैः शनैः दुर्बल होती हुई सेव्य में पुष्ट होती जाती है। यही इस मार्ग की विलक्षणता है।[3] साधक को यह मार्ग निखिलेष्ट प्रदाता है। इसीलिए आचार्य को जन-शिक्षा का आचार्य कहा गया है।[4] सांसारिक व्यक्ति की भौतिकता सहज नहीं छूटती; इन्द्रियों का आस्वाद; रूप का आकर्षण; भोगासक्ति, जिह्वेन्द्रिय की उद्दाम इच्छा

१—जगन्नाथे विट्ठलेच श्रीरंगे वेङ्कटे तथा।
यत्र पूजा प्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्परः ॥ त. दी. नि. स. नि. स. २५५

२—कृष्णार्थं प्रयुञ्जीत, कृष्णोऽनर्थस्यवारकः ,, ,, ,, २५२

३—भक्तिमार्गे सर्वमार्ग वैलक्षण्यानुभूतिकृत्। सर्वो.—२४

४—जनशिक्षा कृते कृष्ण भक्तिकृन्निखिलेष्टदः। सर्वो.—१२

नित्य के ऐसे जीवन व्यापार हैं जिनसे छुटकारे का उपाय अन्य भक्ति-साधनाओं में चर्चित होकर भी कठिनाई से साध्य अथवा नितांत असाध्य हैं। पुष्टिमार्ग अथवा सेवा मार्ग मानव मन की विषयानुरक्ति का पदे-पदे उपचार करता चलता है। इस सेवा मार्ग में जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—अकिंचनता अथवा आढ्यता, सम्पन्नता अथवा विपन्नता सभी दशाओं में अबाधता है। आचार्य वल्लभ का जीवनादर्श 'गरीबी अपनाओ, अमीरी न चाहो' था। कनकाभिषेक में प्राप्त प्रभूत स्वर्ण उन्होंने भगवद्विनियोग कर दिया था। एक बार जब अपने उपास्य नवनीतप्रिय के लिए भोग में मंगला दूध की व्यवस्था नहीं रही तो अपनी अँगूठी बेचकर गाय क्रय कर ली थी। निस्पृह आचार्य ने द्रव्य संग्रह अथवा द्रव्य प्रेम की कभी जीवन में कल्पना तक नहीं की।

उनके उपरान्त उनके द्वितीय पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजी जब आचार्य पद पर अभिषिक्त हुए। तब उन्होंने श्रीनाथजी की सेवा के विशाल मंडान का प्रवर्तन किया। राजसी वैभव की चरम सीमा पर उन्होंने श्रीनाथजी (श्री गोवर्धनधर) की सेवा-पद्धति को पहुँचा दिया था। संसार के यावन्मात्र भोग्य पदार्थ उत्तमोत्तम रत्नाभरण, वस्त्रादि श्री गोवर्धनधर की सेवा में प्रस्तुत कर दिये गए। उनके निजी जीवन का राजसी वैभव एवं संपन्नता श्रीनाथजी के प्रसाद रूप में ही थी। उनका सब कुछ भगवन्मय था। जो भी उनका ग्राह्य, प्राप्य, अथवा भोग्य था वह श्रीजी के हस्त कमलों के माध्यम से ही प्राप्य था। इस प्रकार नित्य-सेवा का वैभव शनैः शनैः बढ़ चला, उधर वर्षोत्सव का वैभव भी भक्तों के विविध मनोरथों के माध्यम से विराट रूप लेता चला गया। प्रतिदिन के भोग, राग, शृंगार निश्चित हुए। वर्षोत्सवों में भी उत्सव परिपाटी, भोग शृंगारादि के स्वरूप ऋतु, देश कालानुसार निश्चित हुए। राग सेवा के लिये लीलापीयूषार्णव श्रीमद्-भागवत की दशम स्कंधीय कृष्ण लीला के गायक दो-दो 'सागर' (सूर, परमानन्द) प्रस्तुत थे ही। इन दोनों को 'सागर' पुकारा गया था। बाद में इनके ग्रंथ 'सागर' कहे गये। इनके लीला सागरों को यदि श्रीमद्भागवत दशमस्कंध के ब्रज भाषा संस्करण कहे जांय तो अनुचित न होगा।

नित्य सेवा से लेकर पूरे वर्ष की सेवा विभिन्न पर्वों, उत्सवों, त्यौहारों की प्रणालिका का स्वरूप बाँधा गया। सारी व्यवस्था जमा कर उसे एक वैज्ञानिक रूप दिया गया। इस सबके पीछे श्रीनाथजी के प्रति श्री विट्ठलेश की असीम भक्ति भावना, प्रेम, दुलार, लाड़-प्यार और प्रत्यक्षानुभूति ही काम करती थी। अपनी असीम निष्ठा और प्रेम लक्षणाभक्ति जो उनके हृदय में अनुक्षण तरंगायित रहती थी;

उसका प्रभाव उनके संपर्क में आने वाले व्यक्तियों पर विद्युत् प्रवाह की भाँति पड़ता था। वह तत्क्षण तन्मय होकर कृतार्थ हो जाता था। श्री विट्ठलेश ने अपने पिता के पद चिह्नों पर चलकर भक्ति प्रचार करते हुये ४० से अधिक ग्रंथों का प्रणयन किया। उन्होंने छः बार गुजरात तक की यात्राएँ कीं। अनेक भक्तों के माथे ठाकुरजी पधराये। उनके २५२ सेवक (ठीक अपने पिता से तिगुने) तो प्रसिद्ध हैं ही। वे सभी भक्त नवधा भक्ति के नौ-नौ भेदों-उपभेदों के प्रतीक स्वरूप माने जाते हैं।

श्री विट्ठलेश के सात पुत्र थे; जिनके माथे उन्होंने बँटवारे में भगवान् के सात स्वरूप पधराये। वे सभी स्वरूप 'निधि' कहे जाते हैं। ये सात निधियां हैं—**श्री मथुरानाथजी, विट्ठलनाथजी, द्वारकानाथजी, गोकुलनाथजी, गोकुलचन्द्रमाजी, मदनमोहनजी** एवं **बालकृष्णजी**। **श्रीनाथजी** एवं **आचार्य वल्लभ** के उपास्य **नवनीत प्रियजी** को मिलाकर ९ निधि अथवा स्वरूप हुये। इनके अतिरिक्त कुछ स्वरूप बालभाव भावित गोद में बिराजने वाले हैं। जिनकी संख्या लगभग ७ के है। प्रस्तुत ग्रंथ में जहां भी **'अन्य घरन में'** प्रयोग आया है। वहां इन्हीं सेव्यों तथा इन निधियों के सेवक आचार्य वंशजों से तात्पर्य है। सात पुत्रों की सात गद्दियां 'सात घर' कही गयीं। सभी घरों की अपनी-अपनी सेवा-पद्धति अपनी कीर्तन पद्धति है। सभी के नित्य सेवा और वर्षोत्सवों के राग, भोग, शृंगार, निश्चित हैं।

एक समय था जब ब्रज क्षेत्र में सातों निधियां एकत्र बिराजती थीं। मथुरा का 'सतघरा' आज भी उनकी अतीत की एकत्र सेवा, उत्सवादि का साक्ष्य देता है। श्री विट्ठलेश के आग्रह से श्रीनाथजी भी यहाँ बिराजे थे।

श्रीनाथजी—श्रीनाथजी श्रीगिरिराज संभूत विग्रह हैं। उनके प्राकट्य की अपनी गाथा अलग से है। वे सभी घरों के मान्य सेव्य हैं। उनकी ऊर्ध्व भुजा का प्राकट्य संवत् १४६६ श्रावण कृष्णा तृतीया रविवार (सन् १४०९) मुखारविन्द का प्राकट्य ६९ वर्षोपरान्त संवत् १५३५ वैशाख कृष्णा एकादशी[1] मध्याह्न अर्थात् सन् १४७८ में तथा संपूर्ण विग्रह प्राकट्य फाल्गुन शुक्ला ११ गुरुवार संवत् १५४९ अर्थात् सन् १४९२ में हुआ। आचार्य वल्लभ ने स्वयं भू श्रीनाथ विग्रह की सेवा का प्रारम्भ में संक्षिप्त सा प्रबन्ध किया था। राग, भोग, शृंगार की सेवाएँ प्रारम्भ हुईं। कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास अष्टछापियों में प्रथम चार लीलागायक कवि—श्रीमहाप्रभुजी के सेवक-अपने नित्य नूतन कीर्तनों से प्रभु की 'राग सेवा' करने लगे। अष्टयाम सेवा में सभी के ओसरे निश्चित हुए। प्रथम शृंगार स्वयं श्री वल्लभाचार्य ने किया, इनको 'गोपालजी' भी पुकारा गया।[2] बाद में गोस्वामी

१—आचार्य वल्लभ के अविर्भाव का संवत् मास एवं तिथि आदि भी यही हैं।
२—आज के जतीपुरे को इसी कारण 'गोपालपुर' भी कहा जाता था।

विट्ठलनाथजी ने इनका नाम 'श्री गोवर्धननाथ' रखा। श्री विट्ठलेश के चतुर्थ पुत्र गोकुलेश के समय से इन्हें 'श्रीनाथजी' पुकारा गया। देवदमन, इन्द्रदमन एवं नाग दमन आदि लीला परक नाम श्रीनाथजी के ही हैं।[1] 'श्रीनाथ' नाम सर्वाधिक प्रचलित, प्रिय एवं दुःख दूर करने वाला है।[2] ये श्रीनाथजी ही लीलानायक, निकुञ्ज नायक, साक्षात् पूर्णपुरुषोत्तम एवं लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं। श्रीनाथ शब्द आनन्ददायक, दुःख निवारक एवं आश्रयदायक है।

'श्रीनाथ' में 'श्री' शब्द लक्ष्मीवाचक—स्वामिनी राधापरक है। श्रीराधा भगवान की आह्लादिनी—शक्ति हैं। 'नाथ' शब्द स्वामीवाचक 'श्रीकृष्ण' अर्थ का द्योतक है। दोनों ही अभिन्न हैं। इसी से यह श्रीकृष्ण स्वरूप गोवर्धन धारी गोपाल जी से चलकर 'श्रीनाथ जी' होगया। श्री विग्रह में पीठिका है जिसमें तीन मुनि संकर्षण, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न हैं। चतुर्थ वासुदेव स्वरूप स्वयं कंदरा के द्वार पर आप उपस्थित हैं। मस्तक का शुक वेदमाता गायत्री का प्रतीक है. मेष (राशि स्वरूप) उत्पत्ति का, मीन संहार का, नृसिंह कर्म, ज्ञान, भक्ति का, सर्प काल (वैराग्य) का, मयूर प्रेम का सूचक है। दूसरा नाग शेष का प्रतीक है। श्रीनाथजी स्वयं सर्वपालक, चतुर्धा सृष्टि के उत्पत्ति कर्त्ता, चराचर के स्वामी हैं। "द्वादशांग तनुर्हरिः" भी यही हैं। द्वादश स्कंधात्मक श्रीमद्भागवत इन्हीं का वाङ्मय स्वरूप माना गया है।[3]

नवनीतप्रिय :—महाप्रभु आचार्य वल्लभ के निजी सेव्य स्वरूप श्रीनवनीत प्रिय आचार्य के साथ निरंतर रहने वाली उनकी अपनी सेवानिधि के रूप में रहे थे। यहाँ तक कि भारत पर्यटन में भी वे साथ रहते। आचार्य को यह विग्रह महावन की एक क्षत्राणी से प्राप्त हुआ था। प्रारंभ में आचार्य ने इन्हें आगरा निवासी अपने प्रिय शिष्य गज्जन धावन के माथे पधराए। बाद में प्रभु अपनी इच्छा से ही गोकुल में आचार्य के पास चले आये। तब से वे निरन्तर आचार्य के साथ रहते। यहाँ तक कि आचार्य और उनके परमाराध्य एक ही शैय्या पर सोते थे।[4] श्री नवनीत प्रिय के दायें श्रीहस्त में नवनीत (मक्खन) तथा बांया पृथ्वी पर टिका हुआ है। इसी प्रकार दाहिना चरण पृथ्वी पर जमा हुआ और वाम चरण घुटनों के बल

१—गर्ग संहिता गिरिराज खण्ड ७।३०।३१।
२—श्रीमद्भागवत १०।१४।१०; १०।३०।१९
३—आचार्यकृत त० दी० नि० भागवतार्थ प्रकरण कारिका ९
४—"सुखद सेज पौढ़े स्री वल्लभवर संग लिये स्री नवनीतप्रिया।"
देखो—लेखक द्वारा संपा०—परमानन्द सागर पद सं० ९६१

पृथ्वी से सटा है । नेत्र सांजन चपल हैं । सूर ने इन्हीं को लक्ष्य कर लिखा था—"सोभित कर नवनीत लिये ।" गोवर्धन गिरिधारी श्रीनाथजी जब गिरिराज से उठ चले और कुछ समय आगरा रहे तब यह स्वरूप श्रीनाथजी के साथ था । वहाँ से श्रीनाथजी के मेवाड़ पधारने तक निरंतर नवनीतप्रिय श्रीनाथजी के साथ रहे हैं । भक्तों की भावना के अनुसार नवनीतप्रिय में बाल भाव और श्रीनाथजी में किशोर भाव समाहित है । चिरकैशोर्य के कारण श्रीनाथजी निकुञ्ज नायक कहे जाते हैं । भगवान् नवनीतप्रिय तिलकायत घर के निजी ठाकुरजी हैं । सचल विग्रह होने से यत्र तत्र आने जाने एवं उत्सवादि में एकत्र होने, वर्षोत्सव में श्रीजी के यहाँ पधारने के लिए सुविधा की दृष्टि से नवनीतप्रियजी ही अग्रगंता हैं ।

तिलकायत—श्रीनाथजी के प्रधान सेवक आचार्य वंशज तिलकायत कहे जाते हैं । आचार्य वल्लभ के जन्म संवत् १५३५ के एक सौ बाईस वर्ष उपरान्त संवत् १६५७ में गो० विट्ठलेशरायजी का जन्म हुआ । ये ही प्रथम तिलकायत माने जाते हैं । ये गो० दामोदरजी के पुत्र, गिरिधरजी के पौत्र एवं गो० विट्ठलनाथजी के प्रपौत्र थे । श्रीनाथजी की सेवा को लेकर जब कौटुम्बिक कलह चला तो श्रीनाथजी ने इनको ही अपने प्रमुख सेवक के रूप में वरण किया । परिणामतः गृह्य कलह शांत हो गया और इनका प्रिय शृंगार टिपारा श्रीजी ने धारण किया । तभी से ये श्रीजी में 'टिपारा बारे तिलकायत' कहे जाते हैं । प्रधान सेवा के प्रतीक रूप इन्हें श्रीजी द्वारा 'टीकैत' बना दिया गया । अन्य भाइयों की सेवा के साथ वर्षोत्सव के सर्वाधिक साठ दिन इनके निश्चित कर दिये गये । इस प्रकार तबसे सम्प्रदाय में तिलकायत परम्परा प्रारम्भ हुई ।

श्रीनाथजी का स्वरूप ब्रज में १७७ वर्ष रहा । श्रीजी अपने प्राकट्य-संवत् १५४९ से संवत् १७२६ तक ब्रजभक्तों की सेवा स्वीकारते रहे । शासकीय उपद्रवों एवं प्रजा के साथ विषम व्यवहारों अत्याचारों के कारण तिलकायत दामोदरजी इन्हें मेदपाट (मेवाड़) की ओर ले जाने को बाध्य हुये । प्रारम्भिक कुछ मास गुप्त रूप से उदयपुर आदि स्थानों में रहे । वि० सं० १७२८ फाल्गुन कृष्णा ७ मी (सन् १६७२ ई०) शनिवार को श्रीनाथद्वारा में पाटोत्सव हुआ । उस समय मेवाड़ में राणा राजसिंहजी शासन करते थे ।[1] श्रीनाथ जी के मेदपाट (मेवाड़) पधारने की स्वयं एक अनुपम गाथा है । मुगल शासक बाबर से लेकर औरंगजेब तक का इतिहास पुष्टि संप्रदाय के इतिहास के समानान्तर यात्रा करता चलता है । एतिह्यों का ध्यान इस ओर गया नहीं । कितना अच्छा होता कि निष्पक्ष

१—विस्तृत विवरण के लिये देखिये—श्रीनाथद्वारा का सांस्कृतिक इतिहास पृ० ६९-७७ ।

साहित्यकार इस ओर भी ध्यान देते—भले ही आलोचक की दृष्टि से ही सही, उन्हें अनेक ऐतिहासिक रोचक तथ्य उपलब्ध होते । किन्तु खेद है पूर्वाग्रह ग्रहीत दृष्टि ने इस सम्पूर्ण साहित्य को 'साम्प्रदायिक' कहकर अवज्ञा के गर्त में फेंक दिया । फिर भी विश्वास है—कोई समानधर्मा इस साहित्य पर स्निग्ध दृष्टि डालेगा और इसका सही मूल्यांकन करेगा । 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं' तो ठीक है किन्तु सर्वत्र एक ही सिद्धान्त अथवा एक लाठी से सबको हांकना भी उचित नहीं । तर्कवादियों के दुर्बोध आवेश ने इस साहित्य की वरणीयता को जितनी क्षति पहुँचाई है उतनी तथाकथित अंधश्रद्धा अथवा अबोध निष्ठा ने नहीं ।

श्रीनाथ विग्रह का सेवा मण्डान गो० विट्ठलेश—युग से जो प्रारम्भ हुआ वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया । उसकी छोरहीन इयत्ता के मूल में सेवकों, भक्तों का लहराता भाव सागर ही था । संवत् १५३५ से आज तक की श्रीनाथ प्रभु की सेवा-अवधि को दो भागों में बाँटा जा सकता है । संवत् १५३५ से संवत् १७२६ तक की १९१ वर्ष की सेवा श्रीनाथजी ने ब्रजवासियों की अंगीकार की तथा संवत् १७२६ से आज—३१२ वर्षों की मेवाड़ में सेवा अंगीकार कर रहे हैं । इस प्रकार ५०३ वर्षों की सेवा-प्रवाह की अनवरतता से जो श्री वृद्धि हुई उसी की चर्चा इस सेवा-रसोदधि में संक्षेप में की गई है ।

पुष्टि मार्गीय सेवा-मण्डान गहरी प्रेम लक्षणा भक्ति-भावना के साथ दर्शन, साहित्य, कला, चरम सौन्दर्य बोध, का पञ्चामृत है । इस भक्ति मार्ग की विलक्षणता है कि यह जीवन निरपेक्ष, समाज निरपेक्ष अथवा जगत् निरपेक्ष साधना-मार्ग नहीं है । शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में 'हरिरेव जगत् जगदेव हरिः' के अनुसार जगत् सत्य है । अतः मिथ्या कहकर यहाँ उससे पलायन नहीं है, न निराशावाद है—'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति' वाली अपनी प्रतिज्ञा भगवान् पदे-पदे निभाते हैं । अतः यहाँ सुदुराचारी के लिये भी द्वार खुला है—आवश्यकता है अनन्य भाव से भजने की और सब कुछ समर्पण पूर्वक ग्रहण करने की । अतः इस सर्वात्मवादी साधन मार्ग में निखिल सृष्टि का कण-कण समाहित है । इसमें सबकी आवश्यकता है, सबको इसकी आवश्यकता है । सेवा में जो भी सांसारिक वस्तुएँ हैं वे सब चाहिये । लोक-तत्व की दृष्टि से कुछ भी छूटा नहीं कुछ भी अछूता नहीं; भाव से अर्जित कुछ भी वर्जित नहीं । परमाराध्य प्रभु सृष्टिकर्त्ता जो हैं । केवल भाव की अपेक्षा है । यह तो सर्वविदित है कि सत्ता भावाश्रित[1] है । अतः यहां जरा-मरण की स्वीकृति नहीं । अतः कोई भय नहीं । परमानंदमय चिरकैशोर्य ही लक्ष्य है । भाव ही जीवन व्यवस्था है । लय अथवा

१—भू सत्तायाम् भावेघञ् ।

मोक्ष की अपेक्षा नहीं । प्रेम लक्षणाभक्ति अर्थात् अद्वैत भक्ति—के लिये, चिर द्वैत की इच्छा है । भगवत् सेवा के लिये पुनः पौन्येन नर, जन्म की अपेक्षा है । निष्कर्ष इतना ही है कि परमाराध्य प्रियतम की सेवा ही जन्म-जन्म में वाञ्छित है । अन्य कुछ नहीं ।

भगवल्लीला के अनवरत गतिशील सुदर्शन चक्र (कालचक्र) में सब दर्शनीय सब 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' है । चिर सुन्दर सेव्य की चिर मंगल सेवा स्त्री-भाव से ही साध्य है । सेवा नारी जीवन का प्राण तत्व है । इसीलिये इस मार्ग में 'स्त्रीभाव' काम्य है, वरणीय है । स्त्री-भाव-भावित होना पुष्टिमार्गीय सेवक का वाञ्छित लक्ष्य है । यह भाव कठोर-साधना, कठोर-आत्म निग्रह, सर्वस्व त्याग, आत्म विस्मृति शून्य, संपूर्ण निवेदन से ही प्राप्य है । अष्टछाप के भक्त कवि परमानन्ददास जी ने अपने एक पद में कहा है—"हे भगवान् ! आप ऐसी कृपा कब करेंगे—जब मेरा पुरुष भाव भंग हो जायेगा ।"[1] स्वयं आचार्य वल्लभ की निजी उपासना स्त्री-भाव-भावित थी ।[2] अतः प्रस्तुत ग्रंथ में नित्य सेवा एवं वर्षोत्सव सेवा में सेव्य के प्रति सेवक का प्रच्छन्न कान्ताभाव यत्र तत्र सर्वत्र निदर्शित है । जो पुष्टि पुरुषोत्तम की सेवा के लिये अनिवार्य बीजभाव है । इस भाव के बिना सेवा बन ही नहीं सकती । यह भाव वेदोपनिषद् प्रतिपाद्य है । सभी भक्तिमार्गों में इसके संकेत मिलते हैं । पुष्टि मार्ग में यह कांताभाव विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ है । क्योंकि यह नितांत सेवा मार्ग है । अर्चा या पूजामार्ग नहीं । पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म पुष्टि मार्ग में सगुण साकार चरम स्वरूपवान् हैं । वह शत्रु, मित्र भाव विवर्जित भक्त सर्वस्व है । सेवक के निज जन है । सेवक के भावानुसार ही वे सेवक के साथ वर्तन (व्यवहार) करते हैं । बाल, पौगंड, किशोरादिवय उनमें समाहित हैं । यही कारण है कि पुष्टिमार्ग में सेवा के विस्तार का छोर नहीं । सेवाभावना वाचातीत एवं सीमातीत हो गई है ।

सेवा-रसोदधि के कृतिकार—श्रीनाथ-सेवा-रसोदधि के लेखक—बागरोदी श्री बलदेव शर्मा 'सत्य' शुद्धाद्वैत दर्शन के पंडित पुष्टिमार्गीय भक्ति के आराधक एवं भगवत्सेवा के मर्मज्ञ भगवत् परायण व्यक्ति हैं । उनकी यह कृति केवल वाङ्मयी भगवत् सेवा ही नहीं, निखिल जीवन की एक तान रसमयी भाव-साधना भी है । प्रस्तुत कृति की पृष्ठभूमि में कृतिकार के वंशगत संस्कार, पारिवारिक परंपरा, शुद्धाद्वैत दर्शन एवं प्रेम लक्षणा भक्ति का सैद्धान्तिक बोध, आस्थामय परिवेश

१—परमानंद सागर संपा० डॉ० गो० ना० शुक्ल—पृ० सं०—८३७

२—देखो—लेखक का लेख आचार्य वल्लभ की भावोपासना—शु० जप यज्ञ समिति स्मारिका काशी सन् १९७९ ।

एवं स्वभावगत अभिजात्य वर्तमान है । इन सभी तत्वों ने मिलकर प्रस्तुत कृति को जन्म दिया है । जीवन की ६०-६५ वर्षों की भाव-साधना, श्रीनाथ मन्दिर में प्रतिक्षण, प्रतिपल व्यतीत करते हुए सेवा के सूक्ष्म से सूक्ष्म रहस्यों का ज्ञानार्जन, सिद्धान्त-बोध के साथ क्रिया योग में गम्भीर अभिरुचि के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ लेखन के लिये वे विवश थे । सात वर्षों के अनवरत परिश्रम के परिणाम स्वरूप ग्रंथ का आविर्भाव हुआ । तिलकायत श्री एवं अन्य एक दो गोस्वामी बालकों को ग्रंथ सुनाया गया, श्रीनाथजी के प्रधान मुखिया सेवा-विधि के अपार मर्मज्ञ श्री गंगादास जी सांचीहर ने अपनी दृष्टि से मुद्रांकित किया । अन्त में स्वयं श्रीनाथजी को भी ग्रंथ श्रवण कराया गया । सिद्धान्त, सेवा, भक्ति, दर्शन, इतिहास, लोकाचार से समन्वित इस ग्रन्थ के प्रकाशन की समस्या कृतिकार के संमुख थी । लोकहिताय ऐसी अमूल्य कृति का प्रकाशन तो होना ही चाहिए था । किन्तु अकिंचन लेखक के सामने दो कठिनाइयाँ थीं पहली अर्थ व्यवस्था, दूसरी ग्रन्थ की ऊबड़-खाबड़ लिखी आठ पाण्डुलिपियों का संग्रह-त्याग पूर्वक विधिवत् संपादन । पाण्डुलिपियों में मुख्य प्रसंग से हटकर अवान्तर प्रसंगों का समावेश, ग्रन्थ का अपना अनोखापन था । कभी-कभी लेखक ने तरंगायित होकर अनेक स्थलों पर काव्य रचना भी करदी थी । यद्यपि संपूर्ण ग्रन्थ ब्रजभाषा में लिखा गया था पर वह टकसाली ब्रजक्षेत्रीय ब्रजभाषा से हटकर एक प्रकार की पुष्टि मार्गीय **'मंदिर भाषा'** थी । यह **'मन्दिर भाषा'** कोई व्यक्तिगत भाषा नहीं, अपितु ब्रज, राजस्थान, गुजरात के पुष्टि भक्तों के संपर्क से बनी सबकी मिली जुली एक खिचड़ी भाषा थी, जिसका अपना एक निराला रूप, निराली अभिव्यक्ति, निराला सौन्दर्य था । किन्तु उसे भी संग्रह-त्याग पूर्वक लोकगम्य बनाने की आवश्यकता थी । संपादन और प्रकाशन एक प्रकार से अर्थ-व्यवस्था से भी अधिक दुरूह कार्य ग्रंथ लेखक को लगा ।

अन्ततोगत्वा लेखक की अगाध श्रीनाथ-आस्था फलीभूत हुई । बम्बई (अंधेरी) निवासिनी सौ॰ रुक्मिणी बहिन ने लेखक को आर्थिक सहायता प्रदान की । उधर संपादन प्रकाशन की प्रतीक्षा में श्रीनाथ-सेवा रसोदधि का कलेवर निरन्तर पोषण पाता रहा । समय-समय पर पुष्टिमार्गीय सेवा के अनन्त रहस्य पुस्तक में समाविष्ट होते रहे । अतः कभी भावावेश ने तो कभी नूतन विचारों ने क्रम का विचार खो दिया । अतः अनेक अवान्तर प्रसंग, जीवनियां, अनेक ऐतिहासिक तथ्य जाने अनजाने प्रविष्ट होते रहे । धीरे-धीरे पुस्तक ने 'सागर' का रूप ही ले लिया । इधर लेखक पुस्तक के प्रकाशन की दिशा में निरपेक्ष और निराश हो गया था । जीवन की क्षण भंगुरता के विचार ने उसे अपना वर्षों का संचित सेवा-रहस्य-ज्ञान दे डालने को आतुर कर दिया था फलतः कहीं कहीं वह मुख्य धारा से हट भी गया है । यही

कारण है कि वर्णनात्मक शैली के साथ, संवाद शैली, प्रश्नोत्तर शैली अनायास ही ग्रंथ में घुस आई है। जिसे संपादन में यथावत् रखना उचित सा प्रतीत हुआ है।

सेवारसोदधि ग्रन्थ श्री नाथद्वारा मन्दिर की एक प्रकार से वर्ष के ३६५ दिन की सेवा दैनन्दिनी (डायरी) है। अतः तत्-तत् दिन की सेवा सम्बन्धिनी भी अवान्तर चर्चाएँ—गत तिलकायतों के घर के बालकों की जन्म-दिन की विशेष सेवाओं के स्वरूप, उनके कारण, विशेष मनोरथ (प्रभु की सेवा—जो किसी भाव विशेष से भक्त के मन में उदित हो) जन्म-विवाहादि के अवसरों पर विशेष सेवा का आयोजन, भगवान के लिए भेंट के साथ-साथ अतीत की भी सेवा भावना तथा विविध मनोरथों के मूल कारण प्रस्तुत ग्रंथ में अनायास प्रविष्ट हो गए हैं। अनेक सेवाओं के स्वरूप श्रीमद्भागवत दशम स्कंध से भी प्रतिपाद्य हैं। जो लेखक के भागवतीय गहन अध्ययन के परिणाम स्वरूप हैं। संक्षेप में ग्रंथ के शतशः प्रसंग विद्वान् लेखक के बहुश्रुतत्व बहुपठित्व एवं सत्संग जन्य वैदुष्य का परिणाम है। लेखक ने वर्षों सूरादि अष्टछापी एवं अष्टछापेतर संप्रदाय के गायकों, गोस्वामी गण एवं अन्य भक्तकवियों की पद रचनाओं का गहन अध्ययन आलोढ़न मंथन किया है। किन-किन कवियों के कौन-कौन से पद किन-किन अवसरों पर नित्य सेवा तथा वर्षोत्सव सेवा में किस-किस सेवा के अवसर पर किन-किन दर्शनों में गाए जायेंगे इसका विस्तृत लेखा-जोखा प्रस्तुत ग्रन्थ में विस्तार से दिया गया है। इस दृष्टि से अष्टछापी काव्य के पुनर्मूल्यांकन की भी आवश्यकता है। नित्य और वर्षोत्सव सेवा के संदर्भ में अष्टछापी काव्य का एवं अन्य अष्टछापेतर कवियों का अध्ययन एक नयी दिशा का उद्घाटन करेगा। इससे ब्रजभाषा काव्य पर नया प्रकाश पड़ेगा और उसके महत्त्व की एक नयी दिशा का बोध होगा। इस समूचे ब्रजभाषा काव्य को यदि पुष्टि मार्गीय-सेवा शास्त्र कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। पुष्टि मार्गीय सेवा की रेलगाड़ी इन पदों की पटरी पर सरपट दौड़ती है। वहाँ वेद-मन्त्र शिथिल हैं। ब्रजभाषा के यह सरल सुगम मधुर पद ही कन्हैया को रिझाते हैं। ब्रजभाषा और ब्रजभाषा के कवियों को इतना महत्त्व मिलना यह आचार्य वल्लभ और गो० विट्ठलेश का ही प्रसाद किंवा आशीर्वाद है। इससे ब्रज-भाषा का आध्यात्मिक महत्त्व बढ़ा है। इसका संपूर्ण श्रेय आचार्य और आचार्य वंशजों को ही जाता है। यह साहित्य यदि पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवा में वैदिक ऋचाओं की भाँति मान्य अथवा समादृत न होता तो संभव है इसको न तो इतना महत्त्व मिलता न परिमाण में इतना विपुल बनता। इस साहित्य को देवत्व और दिव्यत्व प्रदान करने वाला पुष्टिमार्ग ही है। अद्यावधि जो भी इस साहित्य पर शोध कार्य अथवा अनुशीलन हुए वे कोरे साहित्यिक दृष्टि पर ही निर्भर रहे हैं। सेवा-सन्दर्भ वाली दृष्टि का परिचय न होने से वह उघड़ ही नहीं पाई। लेखक ने प्रतिदिन की सेवा के सूक्ष्म निरीक्षण और राग सेवा पर गहरा अवधान देकर इसके महत्व को जन सुलभ किया। संभवतः भविष्य में आने वाले समान धर्मा शोध-यात्री इस पर अध्ययन प्रस्तुत करके लाभ उठायेंगे।

ऊपर ग्रन्थ की संवादात्मक शैली की ओर संकेत किया जा चुका है। प्रश्नोत्तर शैली में लेखक ने शृंगार के भी अनेक रहस्य प्रस्तुत किए हैं। गुंजामाल, वनमाल, टिपारा, मुकुट, हार तबल, किरीट, मल्ल काछ, वागा, सूथन, लकुट, वेत्र, मोजा, काछनी, पाग, मयूरपिच्छादि कब-कब, कैसे-कैसे, कितनी कालावधि तक भगवत स्वरूप को धारण कराये जाते हैं यह सब ग्रन्थ में सकारण प्रस्तुत किया गया है। सखड़ी, अनसखरी सामग्री का विवेक तो बड़ा जटिल है। साधारण पाठक को वह तब तक समझ में नहीं आ सकता जब तक कि वह उसका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त न करले। साधारणतः दाल-भात, कढ़ी, शाक-रोटी आदि कच्ची रसोई को सखड़ी, संज्ञा दी जाती है। दूध-घर की घृत पक्व रसोई को अनसखड़ी कहा जाता है। विवेक तो यहाँ तक कहता है कि दूध में मँड़े आटे की यदि रोटी भी है तो वह अनसखड़ी है। और पानी में मँड़े आटे की यदि पूड़ी भी है तो वह सखड़ी है। सखड़ी अनसखड़ी का विवेक बहुत कुछ परम्पराओं मान्यताओं पर निर्भर है।

इसी प्रकार अनेक प्रकार के नैवेद्य भोगों, विशिष्ट खाद्य पदार्थों की चर्चा है। कौन-सा नैवेद्य एवं भोग का कौन-सा पदार्थ कब-कब निवेदित किया जायगा अथवा अरोगाया जायगा। तिल के लड्डू, सत्तू, आम्ररस, मूँग, नारियल आदि कब, कैसे प्रभु को निवेदित होंगे—यह सब विस्तार से और सकारण ग्रन्थ में दिया गया है।

खाद्य-सामग्रियों की विविधता एवं विशिष्टता में भारत के सभी प्रान्तों में उत्तर प्रदेश उसमें भी पश्चिमी भू-भाग जिसे ब्रज प्रदेश कहा जाता है—सर्वाधिक आगे रहा है। सुस्वादु मनोरथ विविध व्यंजनों, पक्वानों के बनाने की जो पाककला है वह सर्वाधिक इसी क्षेत्र में विकसित हुई है। अन्नकूट, छप्पन भोग, कुनवारा—तीनों का भेद और इनमें निवेदित की जाने वाली सामग्री का पूरा ब्यौरा ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। ब्रजक्षेत्र से चलकर श्रीनाथ जी जब मेदपाट (राजस्थान) पहुँचे तो उन के साथ नित्य सेवा और वर्षोत्सव सेवा के नैवेद्य तैयार करने वाले रसोइए (जिन्हें साम्प्रदायिक भाषा में 'भीतरिया' कहा जाता है) भी साथ गए। वे ब्रज की विविध सामग्रियों की पाक कला में तो निपुण थे ही राजस्थान की भी अनेक सामग्रियों और पकवान बनाने में वे निपुण हो गए और इस प्रकार नाथद्वारा का पीठ पाक कला की दृष्टि से भी सर्वाधिक संपन्न और विकसित हो गया।

प्रस्तुत ग्रंथ में लेखक ने अन्नकूट महोत्सव को महायज्ञ का संपूर्ण रूपक देते हुए उसका शास्त्रीय एवं लौकिक पक्ष उजागर किया है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के २४ वें २५ वें अध्याय में इन्द्रमानभंग और गोवर्धनधारण की चर्चा आई है। उसकी पृष्ठभूमि में 'श्रीनंद बाबा और श्रीकृष्ण के पारस्परिक संवाद में थोथे कर्मकाण्ड की खिल्ली उड़ाते हुये श्रीकृष्ण ने उस राजा के पूजन का निषेध किया है जो कर वसूली में तो दक्ष हो पर प्रजा के संरक्षण और उनकी विविध समस्याओं को हल करने में अदक्ष और अनुपयोगी हो। अन्नकूट महोत्सव में कृषि का महत्व, गोरक्षा, वणिक् का कर्तव्य तथा भगवत्प्रसाद के गहरे महात्म्य के माध्यम से सच्चे समाजवाद के दर्शन कराये गये हैं। अन्नकूट महोत्सव में आदिवासियों, भीलों, आभीरों, स्त्रियों, गोपों, ग्वालों, गायों का ही महत्व है। इसीलिये यह महायज्ञ है। ब्राह्मणों की इसमें प्रधानता नहीं। भागवत भक्तिशास्त्र है अतः भक्ति के क्षेत्र में यदि वर्णाभिमानको सर्वाधिक विखंडित किया है तो भक्ति चिन्तामणि स्वरूप इस महापुराण श्रीमद्भागवत ने ही। विद्वान् लेखक ने इस महोत्सव के समाजवादी स्वरूप को भरपूर उभारा है जो प्रायः सर्वसाधारण को अविदित रहा है।

इसी प्रकार आभिजात्य वर्ग विशेषकर आचार्य वंशजों द्वारा छप्पन भोग एवं कुनवारे के आयोजन भी सात्विक समाजवाद में पर्यवसित हुए हैं। पुष्टिमार्ग अपनी मूल मान्यताओं में सर्वाधिक समाजवादी है। परन्तु पुष्टिमार्गीय समाजवादी मान्यताएँ चरम वैष्णवता, कोमलता, सहिष्णुता एवं विश्वकरुणा के भावों को लिये हुए है। साथ ही उसमें भारतीय संस्कृति की वर्णाश्रम व्यवस्था के सम्यक् दृष्टिकोण एवं कर्तव्यपरायणता का विघटन नहीं है। पुष्टिमार्ग विशुद्ध साकारवादी ब्रह्मवाद है। आचार्य प्रवर्तित पोषित भक्ति मार्ग होने के कारण इसमें जीवमात्र का प्रवेशाधिकार है। किसी जाति, वर्ण, आश्रम का निषेध नहीं। इस मार्ग में मुसलमान भी दीक्षित हुये हैं। उसके मूल में भगवान् कृष्ण के व्यक्तित्व की महान् पृष्ठभूमि एवं विश्वप्रेम की उदार भावना ही है।

ऊपर पुष्टिमार्गीय त्रिविध सेवा-श्रृंगार, राग, भोग के परिचय एवं महत्व की चर्चा की जा चुकी है। पुष्टिमार्गीय सेवा के दो स्वरूप रहे हैं (१) बालभाव की सेवा एवं (२) किशोरभाव की सेवा। बाल भाव की सेवा आचार्य वल्लभ की निजी सेवानिधि श्री नवनीतप्रिय प्रभु के चतुर्दिक केन्द्रित है। यों तो सभी स्वरूपों में भक्त की निज भावना ही प्रधान है। परन्तु किशोर लीला के अधिनायक निकुञ्जनायक श्रीगोवर्धनधर श्रीनाथ जी ही हैं। अतः स्त्रीभाव-भावित किंवा कांताभाव-भावित भक्ति के अधिष्ठान एकमात्र वे ही हैं। अतः उच्चकोटि के भक्तों अथवा आचार्यों में यह भक्ति पल्लवित होकर

स्वामिनी-भाव तक पहुँची हुई थी अन्य सेवकों, भक्तों परिकरों में उनकी सहचरी, सखी भावनाएँ पल्लवित हुईं। स्वयं आचार्य का स्वामिनी भाव अथवा राधा भाव अत्यन्त गोपनीय रहा है। उनकी निजी उपासना का यह रहस्य निज वार्ताओं के गहरे अनुशीलन से ही जाना जा सकता है। उनके समय में तथा उनके तिरोधान के वर्षों बाद तक पुष्टिमार्ग में यह भाव प्रच्छन्न ही रहा। महाप्रभु चैतन्य एवं भक्त प्रवर संगीत सम्राट् श्री हरिदास के समय में सखी सहचरी भाव संप्रदाय में खुलकर चर्चित हुए। संप्रदाय में आचार्यवल्लभ स्वामिनी, गो० विट्ठलनाथजी चंद्रावली, श्री दामोदरदास हरसानी ललिता के स्वरूप माने जाते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु तो अहर्निश राधाभाव में डूबे ही रहते थे। सखी सम्प्रदाय के उन्नायक श्री स्वामी हरिदास जी अपने संप्रदाय में श्री ललिता के स्वरूप माने जाते हैं। भाव-साधनाओं के ये विभिन्न रूप भक्त की गहरी भावदशा के ही परिचायक हैं। संवत् १५८७ में आचार्य वल्लभ एवं १५९० में महाप्रभु चैतन्य के तिरोधान के पश्चात् ब्रज क्षेत्र में ये भाव अधिकाधिक पल्लवित हुये। चैतन्य महाप्रभु के तिरोधान के समय गो० विट्ठलेश केवल अठारह वर्ष के किशोर थे। सखी संप्रदाय के उन्नायक श्री हरिदासजी का ब्रजागमन संवत् १५८० के लगभग हुआ। उनका तिरोधान संवत् १६२० के लगभग माना जाता है। इन चालीस वर्षों में उनका सखी संप्रदाय अत्यन्त लोकप्रिय हो गया था। अतः तत्कालीन भक्ति संप्रदायों में परस्पर एक दूसरे से भावों का आदान-प्रदान किंवा प्रभावित होना स्वाभाविक है। प्रस्तुत ग्रंथ में गत २५०-३०० वर्षों के भक्ति-भाव के परिवर्तन परिवर्द्धन का लेखा जोखा भी इस ग्रंथ में संकेत रूप से विद्यमान है। साथ ही सामाजिक स्थिति का भी विवरण मिलता है। ऐतिहासिक घटनाओं की दृष्टि से भी ग्रंथ का महत्व कुछ कम नहीं। सम्राट् अकबर से लेकर श्रीनाथजी के मेदपाट पधारने तक कतिपय ऐतिहासिक तथ्य ग्रंथ में संकेतित हैं जिनका ब्यौरा अन्यत्र दुर्लभ है। भौगोलिक दृष्टि से लेखक ने ब्रज के वन, उपवन, सरोवरों के अतिरिक्त अनेक प्राचीन लीला स्थलों के पुराने नाम और आधुनिक नाम भी दिये हैं, उनका लीलासम्बन्धी महत्व उजागर किया है। कुछ स्थानों का आज नामोनिशान नहीं रहा। कुछ स्थानों पर अब नगर और कस्बे बस गये। ब्रज के अतिरिक्त लेखक ने राजस्थान के अनेक प्राचीन स्थानों के इतिहास पर प्रकाश डाला है। इससे ग्रंथ की उपयोगिता अत्यन्त बढ़ गई है।

श्रीनाथ मन्दिर नाथद्वारा का शिल्प मतः पूर्त नहीं हैं। गोस्वामी हरिरायजी ने व्रज की कुञ्ज-निकुञ्ज भावना के आधार पर उसका निर्माण कराया था। अतः उसका अपना विशिष्ट स्वरूप है। भारत भर के मन्दिरों से उसकी वास्तुकला नितान्त निराली और भक्त-भावनामयी है। आराध्य के दर्शन ही यहाँ अलं नहीं,

प्रत्येक तिवारी, कोठा, चौक सभी समझने योग्य हैं। सभी सकारण हैं सभी पुष्टि मर्यादा के पोषक हैं। मन्दिर का शिल्प वैभव कुछ अनहोना न होकर भी सांप्रदायिक भावनानुसार विचित्र और वरणीय है। संक्षेप में यदि यह कहा जाय कि नाथद्वारा मन्दिर नन्दालय की भावना से भावित भी है और ब्रज की लीला भावना भी उसमें आरोपित है तो अत्युक्ति न होगी। यहाँ तक कि चतुर्दिक वातावरण ब्रजमय है। गिरिराज गोवर्धन और श्री यमुना की भावना भी वहाँ आरोपित है। इस प्रकार लेखक ने सेवा के माध्यम से नाथद्वारा मन्दिर का प्रसंगोपात्त वर्णन देते हुए उसके अपने वास्तु पर प्रकाश डाला है।

ग्रन्थ की भाषा के सम्बन्ध में—

श्रीनाथ सेवा रसोदधि की भाषा स्थूलरूप से ब्रज-भाषा ही कही जायगी। लेखक ने सेवा विषयक जो भी लिखा है वह आज से वर्षों पूर्व का ब्यौरा है। आज सेवा की वैसी स्थिति नहीं रह गयी है। फिर भी अधिकांश परम्पराएँ जीवित हैं। ग्रन्थ की भाषा यदि ब्रजभाषा टकसाली रूप के समकक्ष आंकी जायगी तो पाठक को निराशा ही हाथ लगेगी। लेखक संस्कृत का उद्भट विद्वान् होते हुए भी राजस्थानी है। ब्रज साहित्य के सतत अध्ययन और नाथद्वारा मन्दिर में जीवन के अनेक वर्ष बिताने के परिणाम स्वरूप जो भाषा उसकी वाणी पर जिस प्रकार चढ़ी है उसने उसे उसी रूप में लिखा है। उसकी अपनी अभिव्यक्ति में ब्रज, राजस्थानी, गुजराती का त्रिवेणी संगम है। ब्रजसाहित्य को राजस्थान और गुजरात प्रदेश अपने ढंग से बोलता, लिखता और समझता है। परिणामतः इस त्रिवेणी ने एक चौथी 'मंदिर-भाषा' को जन्म दिया है। यह 'मन्दिर भाषा' अपना एक भिन्न सा निराला रूप रखती है। जिसे समझने के लिये मन्दिर के परिकर, सेवक मुखिया, भीतरिया, जलघरिया, अधिकारी जी, समाधानी जी, पौरिया, छड़ीदार, सोहनीवारे, झाँपटिया आदि के निकट सम्पर्क से मन्दिर-भाषा की पारिभाषिकता का ज्ञान हो सकेगा। इस पारिभाषिक शब्दावली के कोष की अथवा व्याख्या की अलग से आवश्यकता है जिस पर विद्वानों का ध्यान नहीं गया है।

पारिभाषिक शब्दावली के अतिरिक्त मन्दिर-भाषा की अभिव्यक्ति भी निराली है। उदाहरणार्थ—शृंगार को भगवद् विग्रह से उतारने के लिए—'शृंगार बड़े होंय', भगवद् विग्रह के समक्ष का पर्दा भोग के समय या स्नानादि के समय आने पर उसे 'टेरा आवे'; अन्तिम शृंगार के लिए 'छेल्लो शृंगार' तथा नैवेद्य हो चुकने पर—'भोग सरना' कहा जाता हैं। इसी प्रकार पधराना (बैठाना), बिराजना, आड़ी (तरफ) भेले होना (एकत्र होना) पधारना (आना अथवा जाना), 'विनियोग करना (समर्पित करना)' 'सिद्ध करना' (बनाने, पकाने, निर्माण कराने) आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है जैसे मन्दिर सिद्ध करायो, सिंहासन सिद्ध करायो; खीर सिद्ध कराई–आदि। अभ्यंग (स्नान), पाटोत्सव, ताला मंगल, अधिवासन, उपरणा (दुपट्टा) आदि अनेक शब्द तथा उनकी अभिव्यक्तियाँ हैं जो साहित्यिक ब्रजभाषा में क्वचित् देखने को मिलती हैं। इसका कारण यही रहा है कि पुष्टिमार्गीय मन्दिरों की भाषा में ब्रज के साथ—राजस्थानी, मालवी, गुजराती के शब्द जाने-अनजाने आ घुसे हैं। ग्रन्थ में कहीं-कहीं भूतकालिक क्रियाएँ प्रयुक्त हुई हैं, उसका कारण विशिष्ट सेवा-सन्दर्भ में जिन गोस्वामी बालकों ने उत्सव मनोरथादि किये उनका इतिहास देने की चेष्टा में भूतकालिक क्रियाएँ जैसे–कियौ, भयौ, कर्यौ आदि–आई हैं। वे अतीत उत्सवों का संकेत देती हैं। साधारण पाठक अथवा दर्शनार्थी को ये भाषा अटपटी सी लगेगी।

पुस्तक में ब्रजभाषा की वर्तनी की दृष्टि से अनेक अशुद्धियाँ सावधानी रखने पर भी हो गई हैं। जैसे—शृंगार, श्याम, यशोदा, यमुना, वंशी आदि में एकरूपता नहीं रह पाई है। सिंगार, स्याम, जसोदा, जमुना, बंसी आदि ब्रजभाषा के रूप ही प्रयुक्त होने चाहिए थे। किन्तु जहाँ श्री यमुना के आधिदैविक रूप की या स्वामिनी रूप की चर्चा है वहाँ श्री यमुना लिखा गया है जहाँ आधिभौतिक रूप की चर्चा है वहाँ स्री जमुना। इसी प्रकार अन्य शब्दों के विषय में भी यही सिद्धान्त लागू समझना चाहिए। लेखक मूलतः संस्कृतज्ञ हैं, उन्हें ब्रजवर्तनी की शास्त्रीयता की चिन्ता नहीं रही है। हाँ, भागवत सुबोधिनी जी तथा अन्य संस्कृत उद्धरणों में भी अशुद्धियाँ रह गई हैं जिन्हें दूसरे संस्करण में ही दूर किया जा सकेगा। प्रूफ संशोधन इस ग्रन्थ के लिए एक बड़ी समस्या बन गया था। प्रेस पाण्डुलिपि पूरी तैयार नहीं की गई। कभी-कभी लेखक के मूल हस्ताक्षर वाली पाण्डुलिपि प्रेस में दे दी गई। परिणामतः एक तो ग्रन्थ की ब्रजभाषा, दूसरे लेखक के श्रोत्रिय अक्षर–अतः मुझे भी यदा-कदा पढ़ने में कठिनाई हुई। सन्दर्भ बोध से ही आगे बढ़ना हुआ है, फिर बेचारे कम्पोजीटरों की क्या सामर्थ्य थी, अतः प्रस्तुत संस्करण में प्रयत्न करने पर अशुद्धियाँ रह गई हैं। आशा है वे क्षम्य होंगी।

संपादन की भूमिका:—ऊपर संकेत दिया जा चुका है लेखक ने अपने ५०-६० वर्ष भगवत्सेवा और उसके सूक्ष्म निरीक्षण एवं जानकारी में बिताये थे। अतः ग्रंथ को वे लगभग ६-७ वर्षों में समाप्त कर पाये। ग्रंथ के परिवर्तन, परिवर्द्धन, संशोधन के साथ अनेक बहुमूल्य सेवा-रहस्यों की जानकारी के लिए बड़े मुखियाजी गंगादासजी सांचीहर का सतत सहयोग लेखक का संबल था। ग्रंथ के समाप्त होने पर उसने तिलकायत महाराजश्री को सुनाकर आशीर्वाद लिया, तदुपरांत श्री

आनंदीलालजी शास्त्री एवं अन्य अनेक आचार्यगण जैसे कांकरौलीवाले निं.ली. गो. व्रजभूषणलाल जी गो. घनश्यामलालजी कामवन, गो. मुरलीधरलालजी काशी, गो॰ प्रथमेश जतीपुरा, गो. रघुनाथलालजी कोटा, गो. पुरुषोत्तमलालजी मथुरा, गो. माधवरायजी मथुरा, गो. ब्रजरणजी पोरबन्दर, गो. गिरिधरजी मद्रास, गो. ब्रजरत्नजी सूरत गो॰ गोविंदजी पोरबन्दर, गो॰ नटवर गोपालजी अहमदाबाद एवं पो. कंठमणि जी, शास्त्री श्री केशवरामजी शास्त्री, विष्णुदत्त जी आदि ने ग्रंथ पर सुझाव एवं सम्मतियाँ दीं लेखक ने उन्हें स्वीकार करते हुए अपनी कृतज्ञता ज्ञापन की। किंतु लेखक को सम्पादक प्रकाशक की तलाश बनी रही। नाथद्वारा सांस्कृतिक इतिहास मेरे सम्पादन में अलीगढ़ से प्रकाशित हो ही चुका था। यद्यपि मेरे और लेखक के अनुज-अग्रज जैसे संबंध रहे हैं तथापि वे मुझे आदेश देने में झिझक रहे थे; कारण था—मेरा स्वास्थ्य और मेरी अपनी अनेक व्यस्तताएँ। किंतु मेरी अपनी सांप्रदायिक पृष्ठभूमि, औदीच्य ब्राह्मणत्व, हिन्दी विशेषकर-ब्रजभाषा साहित्य का बोध, गुजराती मातृभाषा, तथा अन्य अनेक संस्कारगत कारणों से उन्होंने साग्रह आदेश दे ही दिया जिसे स्वीकार करना मेरा कर्तव्य था। नाथद्वारा पीठ मेरा अपना गुरु घराना है। नि॰ ली॰ तिलकायत गो॰ गोवर्धनलाल जी महाराज मेरे ब्रह्म संबंध दाता दीक्षा गुरु थे अतः श्रीजी की सेवा जीवन का पवित्रतम कार्य समझता रहा हूँ। अतः संपादन का भार ले तो लिया पर उसकी कठिनाइयों का बोध तब नहीं हुआ था। ग्रंथ का मुद्रण कार्य प्रारम्भ तो हुआ परंतु पूरी प्रेस कॉपी न करने के कारण प्रारंभ में कार्य बड़ी मंथर गति से चला। श्रीनाथजी की लीला विचित्र है; इधर अलीगढ़ नगर के साम्प्रदायिक कलह, बाद में ऊर्जा एवं विद्युत् संकट, कभी प्रेस के कर्मचारियों का असहयोग, उधर मेरी लम्बी बीमारी आदि कारणों से समय निरंतर खिचता गया। द्रव्य सहायिका रुक्मिणी बेन काराणी को भी बड़ा क्षोभ रहा, पर ग्रंथ तो छपना ही था। प्रेस कर्मचारी पाण्डुलिपि पढ़ने में असमर्थ थे अतः कतराते थे। पर प्रकाशक महोदय के दृढ़ संकल्प और गम्भीर भगवदास्था ने ग्रंथ की छपाई जारी रखी। समय खिच जाने से कागज के दाम बढ़ते चले गये। २-३ वर्षों में कागज का भाव दुगुना-तिगुना हो गया। परंतु यह सब श्री गोवर्धनधर की परीक्षा थी। परीक्षा काल समाप्त हुआ और ग्रंथ समापन पर आ ही गया। यह सब भगवान् की महीयसी कृपा का ही परिणाम है।

ग्रंथ का संपादन—लेखक श्री सत्यजी की पाण्डुलिपि लगभग ७-८ रजिस्टरों में थी। रजिस्टर दोनों ओर भरे हुए यहाँ तक कि हाशियों पर भी लिखा हुआ मिलता था। उसको तरंगों में विभाजित करके भाषा, वर्तनी, प्रसंग

પુરુષોત્તમ-પ્રતિભા

શ્રી ગિરિરાજજીને દૂધ ચડાવતા પૂ. મહારાજશ્રી

સં. ૨૦૧૦ વ્રજપરિક્રમા ભાદરવા વદિ ૯ સોમવાર

सभी दृष्टियों से देखना, काटना, छाँटना था। अष्टछापियों के पद जो सर्वविदित थे, उनका तो संकेत भर दिया गया कुछ अपरिचित नूतन पद एवं सेवा में गाए जाने वाले गोस्वामी चरणों एवं अष्टछापेतर अन्य साम्प्रदायिक कवियों के पद पूरे रख दिये गये गए हैं। भागवत, सुबोधिनी, गर्ग संहितादि के उद्धरणों को मूल से मिलाकर व्यवस्थित किया गया। इस दिशा में अनुज डॉ० विश्वनाथ शुक्ल ने कुछ सहायता की। परन्तु प्रेस की दृष्टि से तथा वर्तनी की एक रूपता, तथा अनेक दृष्टियों से वे अधिक सहायता न कर सके फिर भी वे धन्यवादार्ह है। पुनरुक्ति दोष बचाने के लिए बहुत सी सामग्री मुझे कम कर देनी पड़ी, फिर भी कई स्थलों पर वर्ण्य विषय एवं उद्धरणों की पुनरुक्ति हो गई है। यदि 'सत्यजी' के सम्पूर्ण लेखन को प्रकाशित किया जाता तो पुस्तक एक हजार पृष्ठों से कम की न बैठती। सम्पादन का पूरा भार और संग्रह त्याग की पूरी स्वतन्त्रता मुझे उनकी ओर से प्राप्त थी फिर भी जो अनेक त्रुटियाँ हुई वे मेरी अपनी हैं। यह स्वीकार करते हुए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ और स्नेह परवश हूँ। अपनी स्वास्थ्य-सीमाओं को सुरक्षित रखते हुए मैं ग्रन्थ को शीघ्रातिशीघ्र वैष्णव-जगत् एवं भावुक पाठकों के समक्ष लाना चाहता था अतः शीघ्रता में त्रुटियाँ होना स्वाभाविक ही है।

संक्षेप में ग्रंथ का कलेवर फिर भी बढ़ गया परन्तु सन्तोष है कि ब्रजसाहित्य, दर्शन, कला, धर्म, भक्ति; सेवा का यह ग्रंथ सम्प्रदाय का एक लघु एनसाइक्लोपीडिया बन गया है। जिससे साम्प्रदायिक वैष्णवों, सेवकों, मुखियाओं को तो लाभ होगा ही—ब्रजसाहित्य संस्कृति के अनेक शोध-कर्ताओं के लिए भी यह उपयोगी सिद्ध होगा। सम्प्रदाय के पद साहित्य पर आज तक के शोध कार्य अपूर्ण ही कहे जायेंगे। ग्रन्थ के अनेक संकेतों से विदित होता है कि तिलकायत परम्परा के अनेक आचार्यों की ब्रजभाषा-साहित्य की सेवा पर शोध कार्य हुआ ही नहीं है। शोध कार्य के क्षेत्र में संगीत को छुआ ही नहीं गया। उसे एक नया नाम 'हवेली संगीत' देकर आज उसे ध्रुपद धमार की चली आती प्राचीन भारतीय परम्परा से अलग छिटका देने की अवांछनीय चेष्टा की गई है इसी प्रकार पुष्टि-मार्गीय मन्दिरों के अपने हवेली-शिल्प की उपेक्षा करके आधुनिक मर्यादा मार्गीय मन्दिरों का रूप दे दिया गया है। अन्यथा कतिपय कारणों से स्वयं आचार्य वल्लभ तथाकथित मन्दिर निर्माण के पक्षधर नहीं थे। यदि सम्प्रदाय का समूचा वैष्णव जगत् यदि आचार्य की भक्ति और सेवा परम्परा पर आ जाता तो पुष्टि मार्ग का दर्शन और उसकी भक्ति-पद्धति किसी की भी आलोचना का विषय नहीं बन सकती थी। आज आवश्यकता है उसके गहरे अनुशीलन की।

अन्त में मैं ग्रन्थ की अर्थ सहायिका एवं प्रकाशिका श्रीमती रुक्मिणी बेन काराणी एवं मुद्रक रवि प्रिण्टर्स के श्री महेन्द्रप्रकाश अग्रवाल को हृदय से धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने ऐसे अमूल्य ग्रन्थ को प्रकाश में लाने का सुअवसर दिया।

श्रीमद् वल्लभ जयन्ती
संवत् २०३८
शुक्ल सदन, अलीगढ़
दिनांक ३०–४–८१

गोवर्धननाथ शुक्ल

महाप्रभु श्री वल्लभ के प्रथम चार अष्टछापी सेवक

गो० विट्ठलेश, कुंभनदास, सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास

श्री गिरिराज कंदरा में स्थित निकुंजनायक श्री गोवर्धननाथजी

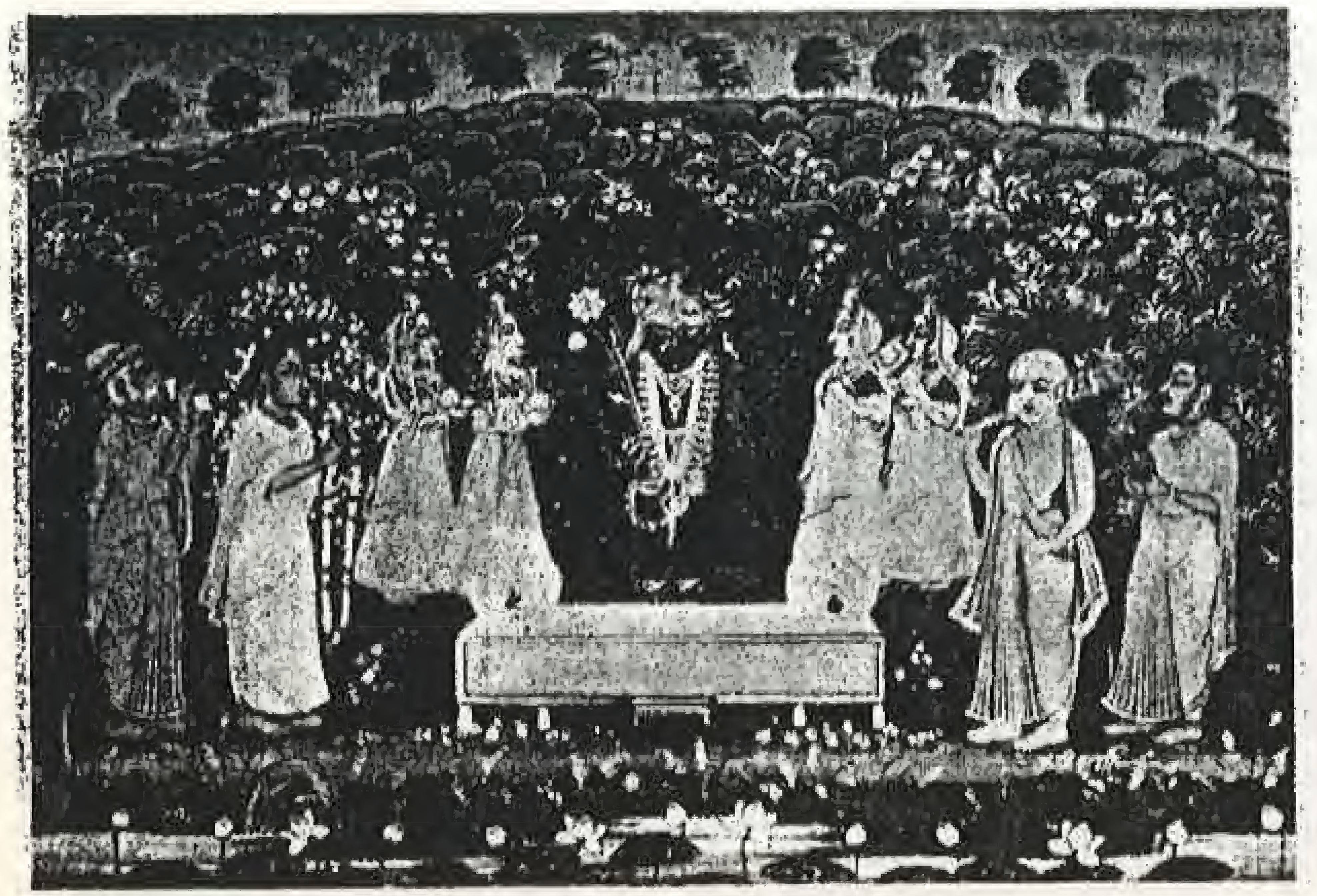

[चित्र परिचय पुस्तक के अंत में पृ० ५७४—५७५ पर देखिए]

संप्रदाय की अष्ट निधियाँ

[१]

श्री नवनीतप्रियजी

[२]

श्री मथुरानाथजी

[३]

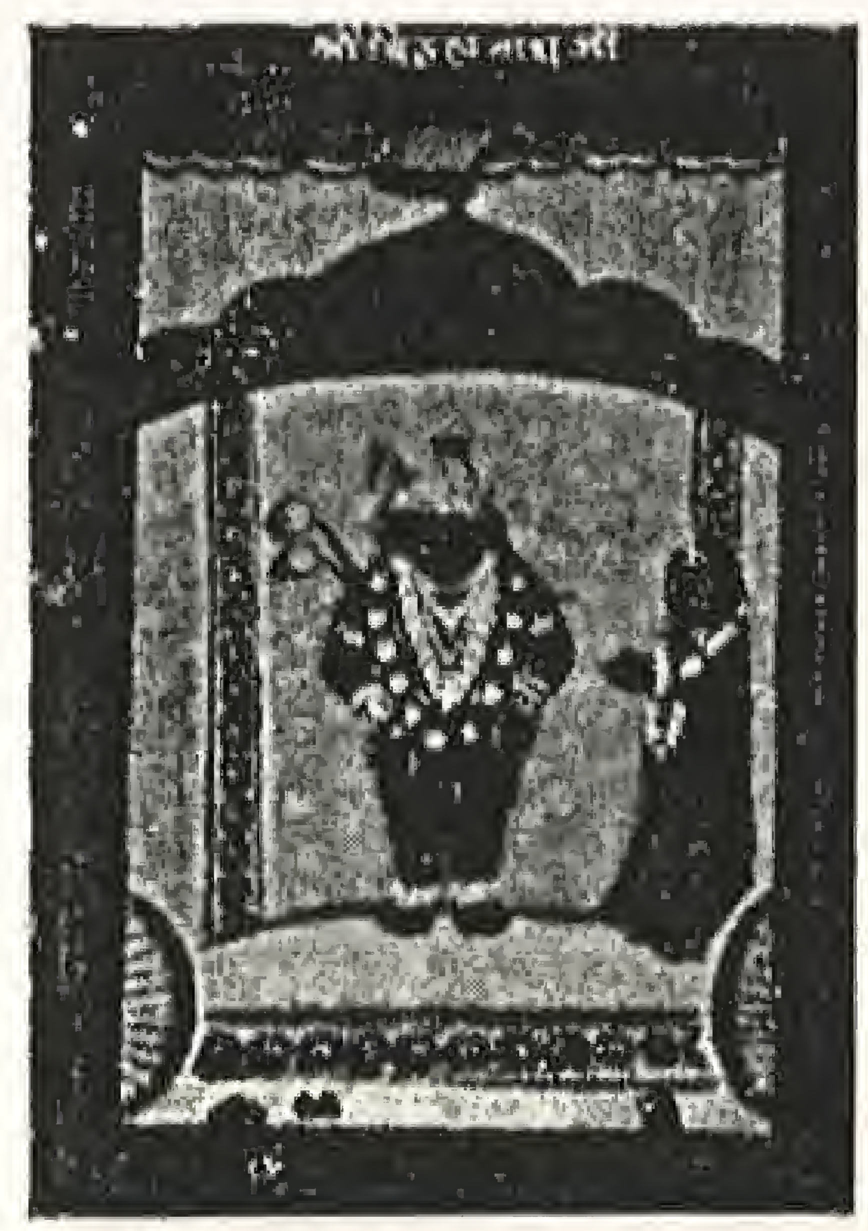

श्री विट्ठलनाथजी

[४]

श्री द्वारकानाथजी